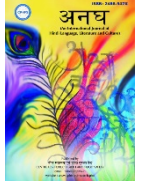




अनघ (An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



एक सैद्धांतिक के अन्वेष

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

सेवानिवृत्त प्रोफेसर,

भारतीय भाषा केंद्र,

भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ हिंदी के सर्वाधिक ज्ञान संपन्न विवेचक हैं, जिनकी तुलना के लिए मैं देश-विदेश की ओर खोजी आँख दौड़ाता हूँ तो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नामी-गिरामी लोग भी मुझे उनके मुक्काबले मुक्कमिल विद्वान के रूप में नज़र नहीं आते। हिंदी के अतिज्ञानी लोग उनके सामने ज़्यादा बौने नज़र आते हैं। मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ और 1960 के शुरुआती दौर में उनका छात्र होने का अवसर मिला। मैं इस बात से हतप्रभ और विस्मित था कि वे एकदम दोस्ताना अंदाज़ में, एक वैज्ञानिक की तरह साहित्य की समस्याओं का हल निकालने बैठ जाते। मुझे याद है जब हिंदी कहानियों की आलोचना करते वक़्त मैं थक जाता, या 'मूल पाठ' की ओर से आँख बंद कर नैराश्य में भटकता और कहीं डॉक्टर मेघ नज़र आ जाते तो पलभर में ही जैसे कोई चमत्कारी दरवाज़ा खुल जाता और कथा-कहानी को देखने-परखने की नई विधियों स्वयं समूचे प्रसंगों के साथ अपने को स्पष्ट कर डालती।

मेरा शोधकार्य अन्तरानुशासन से संबंधित था लिहाज़ा मैं नृवंश-शास्त्रियों और समाज वैज्ञानिकों की स्थापनाओं को जानने-समझने की चेष्टा करता। प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ ऐसे मौकों पर उद्धारक बन कर आते। वहीं से कुछ कुछ "कुंतलीपन" पद्धति के अनुकर्ता के रूप में अपने को पाता और शोध से लेकर लोकप्रिय किस्म के आधारों के बीच भाषिक संरचनाओं के नये रूपों की गणना करने लगता। उस दौर में प्रेमचंद को लेकर एक पुस्तक का प्रस्ताव मैं स्वीकार कर चुका था और मैं प्रेमचंद पर किए अब तक के कामों को टटोल रहा था कि प्रोफेसर कुंतल मेघ ने मुझे उस नयी दृष्टि से परिचित कराया जो गाँधी, हृदय परिवर्तन, जमींदारी प्रभाव और स्वयं प्रेमचंद के अंतर्विरोधों को उजागर करती थी। प्रेमचंद पर अपनी छोटी पुस्तक में इस कोशिश में लगा रहा कि यह प्रेमचंद को जानने की नई दृष्टि विकसित करेगी। इस अर्थ में कि यह एक सृजनात्मक लेखक द्वारा लिखी गई थी। प्रेमचंद की पड़ताल विद्वानों

ने विविध विधियों से की थी। उसमें कुछेक अध्ययन तो प्रदत्त सिद्धांतों की अनुरूपता के गणित से किए गए थे। कुछेक अध्ययन हिंदी अध्यापकों की स्वनिर्मित आलोचकीय आधार शिलाओं की परख के रूप में हुए थे। ज़्यादातर अध्ययन प्रभाववादी थे। प्रेमचंद को लेकर मेरे मन में कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनके उत्तर की खोज का प्रयास यह कार्य था।

1960 के दौर में विश्व साहित्य की तत्कालीन कृतियाँ पढ़ना भी अपने आप में एक अनुभव था। चंडीगढ़ ने मुझे एक अद्भुत किस्म का अवसर दिया था। शुरुआत के दिनों में पश्चिमी साहित्य की जो कृतियाँ पढ़ने को मिली थीं वे अनेक अनुशासनों की नई से नई सूचनाएँ दे रही थीं। ऐसे अवसर पर डॉ. रमेश कुंतल मेघ भी एक विश्वकोशीय सूत्र थे जो स्वयं नई-नई सूचनाओं से लैस थे। इसके साथ युवा कवि कुमार विकल युवा चिंतक कपिल मल्होत्रा और दूसरे विषयों के स्थापित तथा युवा विद्वानों से जारी लंबी बहसों का

एक सिलसिला था जिसमें इतिहास, दीर्ग वैज्ञानिक अनुशासन और नये संसार का साहित्य शास्त्र ऐसा संबल था जिससे हमें उन प्रश्नों के सामने आने का अवसर मिला था जो शास्त्रीय या परंपरागत विधि में संभव नहीं थे। इस संस्करण का प्रतिफल था कि साहित्य के प्रति विश्व में उभरने वाले प्रश्नों के हम एकदम सामने थे और उनके उत्तर समाज शास्त्र, नृवंश-शास्त्र और अन्य शास्त्रों के अंतर्मिलन से प्राप्त बिन्दुओं द्वारा ही खोजना संभव था। इस एक सत्य से परिचित होना, उससे विश्वास या निष्ठा की आशंकाओं को निर्मूल करने की विधि जानना एक बड़ा कार्य था और उसे अवधारणाओं के स्तर पर परिबोधक बनाने के कार्य में प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ की बड़ी भूमिका थी। आरंभ में पश्चिमी जगत की बहुचर्चित रचनाओं को कालक्रम के अनुसार जानना भी एक बड़ा काम था। हमारे जिम्मे उसे सार्वजनिक करना एक दूसरा प्रयोजन था और फिर उसके लिए एक कारगर भाषा की दरकार थी। चंडीगढ़ का नयापन लॉ कार्बूजिए द्वारा परंपरागत चौहद्दी में बिना आंगनों वाले घर का निर्माण तथा मन-मस्तिष्क को झिंझोड़ देने वाली नई चीजों का प्रचलन आदि कुछ ऐसे क्षेत्र थे जो भारतीयता को तोड़े, छोड़े बिना उभर रहे थे और यह विचित्र परंपरागत, कठमुल्लेपन से ग्रस्त पुराने और नये साँचे में नये भारत की को साथ लिए चल रही थी। आधुनिकता के इस विचित्र संचरण का अनुभव चंडीगढ़ में ही संभव था। चंडीगढ़ में ही भाषा, प्रजातंत्रोन्मुखी नयेपन का जो गठजोड़ दिखाई दे रहा था। वह लॉ कार्बूजिए की स्वीकृति थी। भारत में फ्रांसीसी विचारों की ओखली चंडीगढ़ ही थी और इसके नेता थे पंडित रमेश कुंतल मेघ।

प्रो. रमेश कुंतल मेघ अंतरानुशासन के एक ऐसे व्याख्याता हैं जो आधारभूत सिद्धांतों का मात्र उल्लेख नहीं करते अपितु उनकी सप्रसंग विवेचना कर विषय के बारे में विश्व भर की सूचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। यह पद्धति भाषिक संरचना के अनेकार्थी विकल्पों के संवहन के कारण थोड़ी जटिल जरूर लगती है। इसीलिए आरंभ में हमने जिसे 'कुन्तलीय' विधि की संज्ञा दी है -- वह एक ऐसा प्रकरण है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक और सम्प्रेषण की दृष्टि से अनिवार्य लगता है। आप पायेंगे कि विद्वान प्रो. रमेश कुंतल मेघ की पद्धति अर्थ सम्प्रेषण की दृष्टि से जटिल है। एक तो अंतर्सम्बन्धित विषय इतने अद्यतन रूप में सामने आते हैं कि उनके अति व्यवहृत रूपों में अब तक हुए शोध कार्यों का तालमेल खोजना दुश्कर कार्य लगता है। तथापि फतवेबाजी से ग्रस्त हिंदी आलोचना को सैद्धांतिकी के गंभीर रास्ते पर लाने के लिए कुंतलीय पद्धति या विवेके की चर्चा करना जरूरी है। प्राचीन शास्त्र के आधारों में कुछ कुछ ऐसे तात्विक रसायन हैं जो सर्वकालिक हैं अर्थात् वे सदैव अपनी प्रयोजनीयता के कारण अर्थमय रहते हैं। कुछ तात्विक स्थितियाँ ऐसी हैं जो

स्थानिकता के लोकस्वभाव को अभिव्यंजित करती हैं तथा क्षेत्रीयता का संक्रमण नहीं करतीं। तथापि कुछ भाषिक संरचनागत कारणों से भाषा ई-संस्कृति का संवहन करती हैं। ऐसी त्रिगुणात्मक स्थिति में अन्य अध्ययनों के विमर्ष भी मार्गदर्षक तत्त्व के रूप में विद्यमान रहते हैं। प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ की आरंभिक स्थापनाओं से चर्चा का श्रीगणेश उचित होगा। अपनी पुस्तक आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण से जिन सूत्रों को उन्होंने आगे बढ़ाया है वे वास्तव में आरंभिक आधार हैं और उनका निर्माण आकस्मिक अथवा संयोगात्मक नहीं है। इसीलिए प्रो. मेघ ने स्पष्ट किया है कि "समकालीन मनुष्य की संकल्पात्मकता, व्यक्ति की प्रतिबद्ध अभिवृत्ति, रचनाकार द्वारा सही और सच की पहचान ही एक समारंभ है।" इस समारंभ में जब कभी हम प्रभाववादी अर्थ छवियाँ देखते हैं तो उन टिप्पणियों के साथ होना पड़ता है जो विचारों के एक बड़े हिस्से को आयातित मानते हैं। परंतु पश्चिम और पूर्व दो समृद्ध अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। अर्थात् स्पष्ट रूप से पश्चिम और पूर्व दोनों अनुभव अलग-अलग द्वीप हैं तथापि विदेशों की अस्तित्ववादी सौन्दर्यनुमिति और नव्यालोचनावादी साहित्यिक अनुभवों ने पूर्वीय क्षितिज को समृद्ध किया। इन अनुभवों की कालद्वय व्याख्याएँ संभव नहीं हैं अतः इन्हें साहित्य और कलाओं को आगे बढ़ाने वाले सूत्रों के रूप में स्वीकार करना होगा। अपने अध्ययनों में प्रो. मेघ ने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट किया है कि भाषा के जरिए पूरे मानव समाज के संबंध जहाँ एक ओर स्थानिक दिखते हैं वहीं वे अपना जुड़ाव सभी पक्षों से रखते हुए यह भी आभास देते हैं कि उनके पास दूसरों के अनुभवों का भी पर्याप्त सत्यापित आभास है। यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि भाषा ही वह आधार है जो स्वभाषा और परभाषा के आरंभिक अनुभव हमें देता है किंतु उसके अंतर्सम्बन्ध क्षेत्रेत्तर परिसीमाओं तक फैलते रहते हैं। यह फैलाव अनुभव के स्तर का होता है। प्रो. रमेश कुंतल मेघ कहते हैं -- "काल की कसौटी पर कसे गए अनुभव में पूर्ववर्ती अनुभव की सिद्धि भी शामिल है। यही अनुभव राष्ट्रीय रहता है तथा सर्वोत्तम राष्ट्रीय लक्षणों का ग्रहण करता है। इस अनुभव के बिना साहित्य और कला आगे नहीं बढ़ सकती। और यही अनुभव संसार के अन्य विकसित साहित्यों के अनुभव को भी सिद्ध कर सकता है। साहित्य और कला में राष्ट्रीय अनुभव इस तरह श्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों का परिपाक करके वैश्विक और मानवीय अनुभव हो जाते हैं। इस तरह हमारे साहित्य में जातीय अनुभव ही वैश्विक अनुभव बन सकते हैं और केवल कुछ दशकों में हम मानसिक चेतना की वे ऊँचाइयाँ पा लेते हैं जिन्हें छूने में कोरे जातीय अनुभव को एक शताब्दी तक लग सकती है। इसीलिए हमने आधुनिकताबोध और ऐतिहासिक व्याख्या को एक द्वंद्वात्मक एकता मानकर समारंभ किया है।" प्रो. मेघ ने अपने आधुनिकता संबंधी विवेचन में आधुनिकताबोध की अनेक आधार भूमियों का उल्लेख करते हुए अवधारणात्मक रूप से 'आधुनिक' की

जो पड़ताल की है वह विस्मय में डालने वाली है क्योंकि आधुनिकता कोई इकहरी वस्तु नहीं है उसका जटिल रूप तुलनात्मकदृष्टि से भी उजागर किया जा सकता है -- इस दिशा में कार्य करने की परंपरा का सूत्रपात नहीं हुआ था। वास्तव में इस सारे प्रकरण में यह याद रखने की आवश्यकता है कि हिंदी की आरंभिक आलोचना एक ओर प्राच्य शास्त्रीय अवधारणाओं से ग्रस्त थी तथा दूसरी ओर अंग्रेजी के प्रभाव की जकड़बंदी में थी। अंग्रेजी की जकड़बंदी एक तरह से उस काल के प्रभु समुदाय के वर्चस्व का ही शेष राग थी। इसे बदलने के लिए कोई प्रयत्न ऐसा नहीं हुआ जिसे भारतीय शास्त्रकारों की पहल कहा जाए। प्रो. रमेश कुंतल मेघ ने इस दिशा में अपने आरंभिक कार्यों से ही यह धारणा विकसित करने की दिशा में कदम उठाये कि ज्ञान के क्षेत्र में पूर्व का अवदान अपूर्व है किंतु अन्य भाषा-भाषियों के लिए सुलभ न होने के कारण वह ज्ञान पश्चिम की विचार वीथियों में नहीं पहुँच पाया। उन्होंने अपने शास्त्रीय विवेचन से जो नया रास्ता खोला वह कदाचित् पूर्वीय विद्वानों के लिए ही था क्योंकि उसमें उन्होंने समानान्तर ढंग से पश्चिम में हुई प्रगति का तुलनात्मक विवेचन किया था अतः तुलनात्मक शास्त्र के अध्ययन के लिए कुछ जरूरी सूत्र उनके अध्ययनों से प्राप्त होते हैं।

पौर्वात्य चिंतन की आधुनिक परंपरा का स्वरूप पश्चिमी ढंग से विकसित न होने के अन्य कारणों में, जिनमें दासता, लंबे अर्से तक झेले गए अतिक्रमण तथा शिक्षा की प्राचीन पद्धतियों के सातत्य का अभाव तो था ही तथापि दूसरी अंतर्भारतीय भाषाओं में उभरने वाली सुगबुगाहट का ही सहारा लिया जाता तो शायद किसी नव्यता के दर्शन होते कठिनाई यह है कि शास्त्र का जाग्रत स्वरूप अन्य अनुशासनों के उल्लेख और प्रभाव का आकलन किए बगैर स्पष्ट रूप से पकड़ में आने वाला नहीं है। 'आधुनिक' की समूची पहचान को विज्ञानों के समक्ष प्रस्तुत करने वाले वे अकेले भारतीय विद्वान हैं जिन्हें हिंदी के 'व्यवसायियों' के बहुतेरे प्रवादों को झेलना पड़ा है। यह उल्लेख पस्त इस कारण किया जा रहा है कि नेकरधारी स्वयंसेवकों और लाल टोपीधारी प्रतिबद्धों ने अपने प्रचार में बहुत सारी बातें कही हैं। उनका केवल प्रभाव बिन्दु ही हमारे अध्ययन का विषय है, उनकी लिखित या मौखिक टिप्पणियाँ नहीं।

इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी शोध परियोजना में आरंभ में आधुनिक बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों के विभिन्न आधारों के अध्ययन का लक्ष्य रखा था। तब खंडन मंडन वादी आलोचना शैली भाषिक संरचनागत बिन्दुओं के स्थापन के लिए पूर्व प्रदत्त आधारों को ही सर्वोपरि मानती थी तथापि वह एक तरह से कहने के लिए उस काल के आलोचकों की व्यवहारवादी आलोचना का एकदम अव्यावहारिक कदम था जिसको परवर्ती आलोचनाकर्मियों ने और अन्य अध्येताओं ने अस्वीकार कर दिया था। "इस नज़रिये से

इतिहास अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है तथा आधुनिकता भी वर्तमान और भविष्य के बीच का मूल्यचक्र है। और यँ हम अपने महासूत्र में वर्तमान को इतिहास तथा आधुनिकता से संबंधित कर देते हैं। और आधुनिकताबोध सही ढंग से जातीय स्मृति तथा वैचारिक आदर्श का एक सामंजस्य हो जाता है।" यह एक नई दृष्टि थी जिसे प्रो. मेघ ने प्रवर्तित किया था। यह कहते हुए कि तथापि आधुनिकताबोध की भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय परिकल्पना अंतर्विरोधों वाली है। इसके अंतर्गत 'एक' बारबार 'दो' विरुद्धों में बँट जाता है जिससे आधुनिकताबोध के संकल्पात्मक तथा निषेधात्मक, दोनों पहलुओं का सह-अस्तित्व भी रहता है तथा संघर्ष भी चलता रहता है। इसलिए आधुनिकताबोध के कई उपरूप हो जाते हैं जो अनुभव की एकांगिता, अपूर्णता, असंगति, अमूर्तता, या अंतर्विरोध को प्रकट करते हैं। आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट भी किया कि "छठे और सातवें दशक में निरर्थकताबोध आत्मनिर्वासनबोध, व्यर्थताबोध, अस्वीकृतिबोध, विवशताबोध, निष्कासनबोध आदि बृहत्तर आधुनिकताबोध के ही असंकल्पात्मक रूप हैं जो मूलतः अस्तित्ववादी और अराजकतावादी जीवनदृष्टियों से प्रभूत हुए हैं। ये यथार्थ के ही प्रतीयमान अंश हैं और इनके द्वारा भी मोहन राकेश से लेकर वल्लभ सिद्धार्थ और सौमित्र मोहन तक ने अनुभव एवं संवेदनाएँ अभिव्यक्त की ही हैं। इसलिए बुनियादी सवाल आधुनिकताबोध को (अनुभव की समसामयिकता के साथ-साथ) जातीय स्मृति तथा वैचारिक आदर्श से भी जोड़कर उसे एक सापेक्ष्य द्वंद्वात्मक एकता के रूप में उपलब्ध करने का है।"

यहाँ यह याद रखना अनिवार्य होगा कि जब भी आधुनिकता की पड़ताल की जायेगी तो उन प्रभावों को लेना ही पड़ेगा जो समाज परिवर्तन के कारक बने हैं और ऐसे कारकों को पश्चिमी मानकर उनका बहिष्कार करना शास्त्रोक्त नहीं है। भारत के आर्षग्रंथों में भी अपने समय की विजातीय सूचनाओं को संदर्भ की तौर पर प्रयोग की उदारता बरती गई है यद्यपि तब तक आपसी विनिमय के रूप में जातीय और विजातीय समीकरणों की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। धर्म और दर्शन में एकल ग्रंथों का प्रमाण मानने वालों के यहाँ जो दृष्टि है वह बहुत्ववादी सांस्कृतिक रूपाकार के कुछ स्वयंभू विवेचकों के यहाँ ऐसी अहंकारपूर्ण उक्तियाँ मिल जायेंगी जो दूसरे के अस्तित्व को विजातीय और एकनिष्ठता के प्रति हस्तक्षेप मानते हैं इसीलिए प्रो. कुंतल मेघ को अपने अध्ययनों में बराबर सचेत होकर यह स्पष्ट करना पड़ा है कि पूर्व और पश्चिम के मिथक वास्तव में उन काल खण्डों के ज्ञान का संरक्षण है जिसे आज हम अपनी प्रयोजनीयता के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक अनुभव के रूप में लेते हैं।

आधुनिक साहित्यदृष्टि संपन्न विवेचनाएँ जिस क्षितिज की भी हों वे सभी रचनाओं पर इसलिए सटीक बैठती हैं कि उनमें साहित्य का अद्यतन का चेहरा मिलता है। यह अद्यतनता इसलिए भी काम की

चीज़ है क्योंकि यह वस्तु और रूप में सातत्य की अंतर्निहित रेखाओं को स्पष्ट करती है इसीलिए नये अध्ययन के लिए जरूरत थी ऐसे आलोचनात्मक परिज्ञान की जो 'वस्तुगत' वास्तविकताओं की मूल चूलों का विवेचन करे न कि प्राचीन शास्त्राधार को ही हर रचना के मूल्यांकन का एकमात्र आधार माने। इसका फल यह हुआ कि हिंदी का जो रूप दिन-ब-दिन बदल रहा था, उसकी परवाह भी आलोचनाकर्म का हिस्सा नहीं बन पाया। उस काल के भाषा संबंधी विवेचन करने वाले आचार्य भी केवल विन्यासगत शुद्धाचरण को ही भाषा की संवृद्धि और क्षमता के विस्तार में सीमित करने लगे। प्रो. रमेश कुंतल मेघ ने साहस कर समकाल के नव्यतम हस्ताक्षरों की परिगणना कर उसे नये वस्तु पक्ष का परिचय देना चाहा जो तब तक विवेचना का आधार नहीं बना था। अधिक-से-अधिक सामाजिक जागरूकता के बिन्दुओं की पहचान के लिए बीसवीं शताब्दी की आरंभ की कुछ रचनाओं को केन्द्र में रखकर अध्ययन की परंपरा को ही सर्वोपरि मान लिया गया। और इसके लिए प्रमाण पश्चिमी स्थापनाओं को मान लिया गया। आलोचना के क्षेत्र में यह आपराधिक काम हुआ है। सूचनाओं का बारीकी से विश्लेषण करना, उनके निष्कर्षों को तुलना की तुला पर पारदर्शी रूप में देखना और उनके प्रभाव बिन्दुओं का आकलन तो श्रेष्ठ कार्य है किंतु वह अधम वृत्ति जिसके मूल में कोई चालाकी, कोई शातिर लक्ष्य छिपा हो अर्थात् किसी को स्थापित करने की या किसी को विस्थापित करने की चाल हो तो इसे खंडन मंडनवादी आलोचना ही कहना पड़ेगा। इसकी बनिस्पत् प्रो. रमेश कुंतल मेघ ने अपनी निष्ठा और पारदर्शिता से, थोड़ा बोझिल होते हुए भी, ज्यादा ग्राह्य बनाया है उन्होंने आधुनिकता के संचरण में लोक की उपेक्षा नहीं की -- दृष्टव्य उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करेगा। यह पहचान आंचलिक जीवन को केवल सौंदर्यबोधकता अथवा बौद्धिक निष्पक्षता के द्वारा नहीं हो सकी। फणीश्वरनाथ रेणु इसकी प्रत्यक्ष मिसाल है। "यह पहचान कस्बाई एवं ग्रामीण भारत के वर्गीय समाज के अंतर्विरोधों एवं आर्थिक संबंधों को कलात्मक ढंग से तलाश करने पर ही हुई है। नागार्जुन (बलचनमा), भैरवप्रसाद गुप्त (गंगा मैया), मार्कण्डेय (बीच के लोग), इसराइल (फर्क) में इस पहचान के आरंभिक सबूत मिलते हैं। यह तत्त्व 'निरर्थकता' के बजाय संघर्ष के बिंदु पर, तथा 'फूहड़ता' के बजाय जिजीविषा के बिंदु पर शक्तिमान हो रहा है। जातीय स्मृति की पहचान का तीसरा हाशिया अतीत से अंतहीन संवाद का है। इस साहित्यिक संवाद के अंतर्गत एक ओर मिथकों तथा ऐतिहासिक कथाओं के सहारे अपने समय के यथार्थ का साक्षात्कार करने की चेष्टा होती है (ध्रुवस्वामिनी, अंधायुग, आत्मजयी, भस्मांकुर)। यह चेष्टा प्रकट ऐतिहासिक व्याख्याओं तथा प्रच्छन्न वैचारिक आदर्शों के समकालीन संदर्भों में ही होती है। दूसरी ओर

समसामयिक सामाजिक संदर्भों और जीवनदर्शनों के द्वारा यह पहचान मौलिक सृजनात्मक और मानवीय मुक्ति के आधुनिकताबोध को दीप्तमान करती है।" यह कुछ लोगों के लिए कौतुक का विषय हो सकता है किंतु जिस गंभीरता से प्रो. रमेश कुंतल मेघ आधुनिकता के संचरण में अवधारणाओं का परिगणन कर उनकी व्याख्या कर रहे हैं वह फतवे वाजी संपन्न आलोचना की अपेक्षा ज्यादा शास्त्रीय है तथा आधुनिकता के आलोक में पूर्वी क्षितिज में उभरने वाले उन बिंदुओं को रेखांकित करना है जिनसे हमारे सामाजिक परिवर्तन के भीतरी प्रकोष्ठ आलोकित हुए हैं।

एक तरह से आधुनिकता मात्र यांत्रिक उपस्थिति नहीं है। वह औद्योगिक मजदूर के हृदय में जिस तरह से अलगाव का तत्व विकसित करती है उसी तरह लोक के दूसरे क्षितिजों को भी एक व्यापक प्रभाव से अछूती नहीं रहने देती -- प्रो. मेघ ने इसे परिपूर्ण रूप से स्पष्ट किया है -- "राजकमल चौधरी कहते हैं कि 'भीड़ से विच्छिन्न असंपृक्त रहकर भी भीड़ से मुक्त मैं नहीं हो पाता हूँ। मुक्त हो जाना कविता से पहले और मृत्यु से पहले। मुक्त हो जाना असंभव है।' और वे उग्रतारारूपी पृथ्वी को 'सोये हुए वर्तमान' की तरह अपने मरण में मुक्त करते हैं (मुक्तिप्रसंग, प्र. 19, 28)। मुक्तिबोध मंत्री, उद्योगपति, प्रकांड आलोचक, विद्वान, पत्रकार, शहर के हत्यारे प्रख्यात डोमाजी उस्ताद आदि सभी को एक राक्षसी जुलूस में शामिल पाते हैं जिनकी रक्षा में संगीन नोकों का चमकता जंगल पीछे-पीछे चल रहा है। कवि इनके राक्षसी स्वार्थों तथा छिपे उद्देश्यों को साफ़ समझ लेता है और तब रंगीन फूलों को छोड़कर 'अभिव्यक्ति के सारे, खतरे' उठाता हुआ आतंक को अपनी भीषण शक्ति के द्वारा ध्वस्त करने का संकल्प करता है। यह मुक्तिबोध के विमुक्तिबोध का उपरूप है। कुमार विकल कहता है कि 'नहीं, मुझे अपनी कविताओं की काली हवाओं, अंधी गुहाओं/ और हिमशिलाओं के स्रोत नहीं ढूँढने हैं/ मैं सिर्फ इन चित्रों-बिंबों से मुक्ति चाहता हूँ/ मैं इनकी अंधी दुनिया से निकलकर/ लोकगीतों की खुली दुनिया में लौटना चाहता हूँ।' आधुनिकता का लोक संचरण एक अलग प्रकरण है किंतु भारत में एकदम भुला दिया गया कि पर संस्कृतिकरण की लंबी अवधि में भारत ने क्या क्या पाया ? प्रो. कुंतल मेघ ने मध्यकाल की अपनी व्याख्या में भाषाओं की प्रवाहमयता को उन संपर्कों से जोड़ा जो इतिहास की ऐसी थाती है जिसकी व्याख्या अनेक रूपों में हुई। पश्चिम ने उसे अपने राजनैतिक हित साधने के लिए विवेचित किया किंतु नये ज्ञान संपन्न एक अल्पसंख्या ने उसके रेखांकों को अपने ही अलग प्रारूप में भासित किया। उन सबमें अलग दृष्टि रखने वाले प्रो. मेघ के विचारों को जानना आवश्यक है। "बारहवीं शताब्दी से अरबों, तुर्कों और अफगानों के हमले होने लगे और सोलहवीं शताब्दी में बाबर ने मुगल साम्राज्य की नींव रखी।

इस नये सांस्कृतिक अंतरावलम्बन के फलस्वरूप भारतीय भाषाओं, सांस्कृतिक जीवन और राजनैतिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा। फलतः एक नये रिनैसाँ का आविर्भाव हुआ। यह भी ध्यातव्य है कि ये विदेशी आक्रमण भारत के आर्थिक एवं सामाजिक संबंधों को बुनियादी रूप में नहीं बदल सके क्योंकि उत्पादन का सामंतीय ढाँचा और अधिक मजबूत हो गया। सामंतों तथा सामंती कानूनों में ही हेर-फेर हुई। भूमि पर राज्याधिकार व्यवस्था और संगति हो गई जिससे कारीगरों, किसानों, मजदूरों का शोषण तेज़ होता गया। अतः धर्म के माध्यम से 'जाति' और 'परिवार' की धुरियों को खंडित किया गया। पहले नाथों-सिद्धों ने बाद में संतो-भक्तों ने। इस तरह एक ओर भक्ति-आंदोलन व्यापक होता चला गया, दूसरी ओर निम्न श्रेणियों के लोग इस्लाम कुबूल करते गए (बहुधा जबरन)। भक्ति-आंदोलन के प्रमुख देवता शिव न होकर विष्णु थे – विष्णु के कृष्ण एवं राम के अवतार।" हम पायेंगे कि एक कालखण्ड के मिथक अपनी ऐतिहासिक केंचुल उतार कर नव्यता के रूप में विकसित हो रही है। स्पष्ट है कि कुछ नया सामने आ रहा है। फलतः क्रमशः मधुरोपासन एवं मर्यादोपासना का अभ्युदय हुआ। इस आंदोलन ने लोक-संस्कृतियों, लोक-भाषाओं और लोक-नेतृत्व को उजागर किया। विकसित मध्ययुग में संस्कृति की अखिल भारतीय भाषा ब्रज बनी। सत्रहवीं शती तक आते-आते बोलियों ने संस्कृत को विस्थापित कर दिया जो 'कूपजल' की तरह हो चुकी थी और ये भाषाएँ तो 'बहते नीर' की तरह कल-कल-कल करती चल पड़ी थी।"

लोक और अंतरसंवादी भाषा के अंतर को प्रो. मेघ दूसरे स्तर पर स्वीकार करते हैं और उसके पीछे उन तमाम शक्तियों का अस्तित्व स्वीकार करते जो भारत के उभरने की ऐतिहासिक शक्तियों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनके अध्ययनों से हमें भारत के भावी स्वरूप की भी कुछ कुछ तस्वीर मिलती है तथापि वे बहुज्ञान की धाराओं की सम्पृक्ति से कुछ इस तरह गठित हैं कि कुछ विद्वानों को उनके बीच अर्थ ग्रहण के लिए अतिरिक्त रूप से तैयार होना पड़ता है। परंतु वे बहुत बेवाक ढंग से अपनी स्थापनाओं के द्वारा उस नये सैद्धांतिक आधार की ओर पहुँचते हैं जहाँ दूसरे दुस्तरता से पीड़ित रहते हैं। प्रो. मेघ ने उचित ही कहा है कि "अगर हम आज 'शुद्ध', 'पवित्र' एवं 'शाश्वत' भारतीयता की आधुनिक खोज करेंगे तो यह पुनरुत्थानवाद और सामंतवाद के जुएँ में हमें जकड़कर पिछड़ा बना देगी, तथा हम एक समाज के रूप में इतिहास में मिट जाएँगे क्योंकि इसकी कसौटी तो जाति, धर्म सामंतीय संस्कारों में जकड़ा परिवार, चरखे का अर्थतंत्र, पंचायत की संगठन व्यवस्था और तीर्थों वाली नगर चेतना ही हो सकती है। अतः शुद्ध पवित्र शाश्वत भारतीयता के अतीत स्वप्नों में भटकने का तात्पर्य यह है कि हम एक ऐसी ही

स्थायी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को भी आधार मानें। इसका तात्पर्य यह भी है कि हम उपनिवेशवादी चरण में संस्थापित पूँजीवादी उद्योगों को, तथा सामंतकालीन शताब्दियों में अर्जित मिश्रित सांस्कृतिक चेतना को -- दोनों को त्याग दें। भौतिक समय एवं ऐतिहासिक समय ने तो दुबारा लौट सकते हैं, और न ही शाश्वत हो सकते हैं।" अतः भारतीय, भारतीयता और भारतीय आधुनिकता की खोज हमें इस बहुत्ववादी संमिश्रण में ही करनी पड़ेगी और उसे अपने लौकिक अध्यात्म के जरिए खांटी 'देसी' परिपाक में उसके उन तत्वों से परिचित कराना पड़ेगा जो तमाम परिवर्तनों के बीच खुद बदलते, ढलते रहते हैं किंतु सांस्कृतिक चेतना के आधार पर या सरलीकरण के रूप में उसे हम मूल्य या स्थायित्व से जोड़ कर ही देख सकते हैं। यह नई दृष्टि न सिर्फ सनातन भारत को जानने की है बल्कि आधुनिक भारत की पड़ताल भी इसी दृष्टि से करनी पड़ेगी। कभी-कभी प्रो. मेघ अपनी स्थापनाओं के लिए कुछ दार्शनिकों की विवेचनाओं को आधार के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्वीकृति के जरिए ही 'भारत' नामक इकाई उन व्याख्याओं की वैज्ञानिक परिणितियों को आत्मसात इसलिए करती है कि ऐसी उदारता उसे अपने वैज्ञानिक परीक्षण के लिए अनुकूल जान पड़ती है। जातिबंधन की जकड़बंदी को ही लें, उसे मार्क्सवादी विवेचना से देखना पश्चिम से किसी प्रकार के आलोचकीय विवेक या विवेचना के औज़ारों को उधार लेना नहीं बल्कि उसके वैज्ञानिक प्रकल्प 'भारत' के सातत्य में पहले से ही उपलब्ध हैं। प्रो. मेघ ने इस जटिलता को सरल बनाते हुए स्पष्ट भी किया है -- "भारत में सामंतीय समाज का पूर्ण विकास छठी-सातवीं शती (ई.पू.) तक हो चुका था। भूमि पर पंचायत का अधिकार होता था लेकिन भू-स्वामी (सामंत) ने इस 'सबै भूमि गोपाल की' को किसानों को इस तरह बँटाई के तौर दिया कि उनसे लगान वसूल किया जा सके। इस तरह भेंट (ट्रिब्यूट), मालगुजारी (रेंट) या बेगार के रूप में कोरबी में बदल गई। इसे हम "सामंतीकरण" की प्रक्रिया कहते हैं जहाँ नेतृत्व क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों की मैत्री ने हस्तगत किया। कोसांबी का कथन है कि शूद्र वर्ण के विधान के कारण भारत में यूनान तथा रोम की जैसी यथार्थ दास-प्रथा (स्लेवरी) का विकास नहीं हो सका क्योंकि दस्यु (द्रविड) ही शूद्रों में दीक्षित कर दिए गए। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज की तमाम विचित्रताएँ उसके यथार्थ के भीतर से ही विकसित हैं अतः उन्हें जानने के लिए टुकड़े टुकड़े भारत के जरिए जानना दुष्कर है। एकदम उत्तर संसार की तुलना में हम भारत को पिछड़ा पायेंगे। कारण सिर्फ यह है कि भारत में किसी भी मूल्य या मत या विश्वास या स्थापना की स्वीकृति की जाँच जादुई छड़ी की तरह तत्काल प्रयोगशाला की पड़ताल वाली मान्यता ही नहीं है उसे काल के अदृश्य, लापता, चलायमान चरित्र के जरिये भी नहीं पकड़ा

जा सकता उसे ऐसी विधि से पकड़ा जा सकता है जो विधि अभी तक दूसरे प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल की गई हो। इसी प्रसंग में डॉक्टर रमेश कुंतल मेघ की धारणाएँ एक वृहद यंत्र से उपजी हुई दीखती हैं।

आधुनिकीकरण आधुनिक युग की अनिवार्यता है। अतः बड़े पैमाने वाले उद्योग केन्द्रीयकरण की ओर उन्मुख होते जाते हैं तथा उनमें टेक्नोलॉजी की भूमिका कामगर की भूमिका को विचित्र ढंग से निवेशित करती है। लेकिन हम आधुनिक युग में बड़े पैमाने वाले उद्योगों को खत्म नहीं कर सकते। इस गांधीवादी स्वप्न का मतलब उद्योग का ही विलयन होगा तथा पुनः इतिहास चक्र को पीछे घुमाकर चरखे की ओर प्रत्यागमन। केवल भारी उद्योग ही नहीं, अपितु नाना भ्रांति के संगठनों – नौकरशाही, पुलिस, फौज -- के बीच भी हमें रहना होगा। किस तरह रहना होगा -- यह प्रश्न दूजा है। मैक्स वेबर और कार्ल मानहाइम (1893-1947) ने परायेपन को “नौकरशाहीकरण” (ब्यूरोक्रेटाइजेशन) में पर्यवसित कर दिया। वेबर ने कहा कि ‘आधुनिकीकरण’ की प्रक्रिया में सभी समाज बहु-आयामी संगठनों की ओर बढ़ते हैं। जो बहुधर्मी तथा केन्द्रनिर्देशित होते हैं। अतः मनुष्य का महत्त्व शून्य-सा हो जाता है। अतः सिविल सर्वेंट प्रशासन के साधनों से, वैज्ञानिक अन्वेषण के साधनों से, सिपाही हिंसा के साधनों से, कलाकार रचना के साधनों से “पृथक” हो जाता है। केन्द्रीयकरण (सेंट्रलाइजेशन) के दौर में समाज ही एक मशीन की तरह संचालित होता है। अतः मनुष्य ‘निर्वैयक्तिक’ हो जाते हैं। समाज मशीन के बजाय एक आवयव गठन (आर्गेनिक स्ट्रक्चर) के रूप में भी संचालित किया जा सकता है।”

इस निबंध में प्रो. रमेश कुंतल मेघ की इसी अवधारण की पहचान की गई है कि वे अत्यंत उदारता से भारत के भविष्य को उसके अतीत से बिलग होकर नहीं देखते हैं। स्पष्ट है कि यह वैचारिक ईमानदारी का पहला अधार है। दूसरे वे विश्व भर में हुए विभिन्न अनुशासनों के अध्ययनों से उन वैज्ञानिक आधारों को उभारते हैं जो भारत की अपनी आंतरिक बुनावट में अस्तित्वमय हैं। अर्थ यह कि चाहे आधुनिक भारत हो या उत्तर आधुनिक भारत वह सदियों से काल की केंचुल फेंकता हुआ -- इस कालातीत वैचारिक उन्मेश में विकसित होता है, उसके विकास के यंत्र-गठन की प्रक्रिया इकहरी नहीं, इसलिए सैद्धांतिक अन्वेषण की यह कुन्तलीय विधि भी जटिल है।